मध्यकालीन भक्ति आंदोलन : सामाजिक क्रांति

डॉ नीलम ऋषिकल्प,
एसोसिएट प्रोफ़ेसर,
रामलाल आनंद महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय

कोई भी आंदोलन सामाजिक आवश्यकता का पहलू होता है। जब समाज के नीचे की तह तक घटनाओं के दबाव पड़ने लगते है, तब समाज की परतें इन घटनाओं के दबावों से आंदोलित हो उठती हैं। इसलिए मैं आंदोलन को समय के परिवर्तन–चक्र से जोड़ती हूं। आंदोलन समाज को आगे भी ले जा सकता है और पीछे भी धकेल सकता है। यहां विचारणीय प्रश्न यह होता है कि आंदोलन की दिशा क्या है। यदि आंदोलन की दिशा प्रगतिशील और विकासोन्मुख है, तब तो आंदोलन समाज की चेतना को आगे बढ़ाएगा और यदि आंदोलन की दिशा प्रतिगामी है तो वह समाज में जड़ता और ठहराव भी ला सकता है। इतना स्पष्ट है कि जब कोई आंदोलन समाज के लिए जीवन–मरण का प्रश्न बन जाए, तब उसकी प्रासंगिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। इतिहास और समाजशास्त्र के लिए इस प्रकार के आंदोलन पर विचार करना आवश्यक हो जाता है ताकि पता चले कि समाज के बदलाव का गणित क्या है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्ति आंदोलन भी ऐसा ही आंदोलन है जो तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना के बदलाव को अभिव्यक्ति देता है। यह वह समय था जब समाज सामंतवाद से जुड़ा हुआ था और सामंतवाद का भी पुराना ढांचा टूटकर एक नया ढांचा पनप रहा था। अपने राज्य को दृढ़ करने के लिए सुल्तानों ने सामंतों का उपयोग किया और आरंभ में खलीफाओं तक से अपने को जोड़े रखा 14वीं 15वीं सल्तनत काल में सामंती व्यवस्था का नया दौर आया जिसमें आरम्भिक टकराहट के बाद मेल–जोल की शुरुआत हुई। 14वीं शती के आरंभ में देवगिरि को पराजित कर अलाउद्दीन ने उत्तर–दक्षिण की भौगोलिक सीमाओं को मिटाने की कोशिश की। पर दक्षिण में बहमनी जैसे ताकतवर मुस्लिम राज्य का होना यह सिद्ध करता है कि धर्म एकता का आधार नहीं है और भारतीय मध्यकाल में वास्तविक टकराहट सामंतों के बीच थी। बराट, बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुंडा, बीदर के मुस्लिम शासक उत्तर के सुलतानों को चुनौती देते रहे और मुगलकाल में ही दक्षिण संपूर्ण भारत की इकाई बनाया जा सका। मुगलकाल में ही सामंतवाद का केंद्रीकरण हुआ। कृषि पर आधारित भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था में सामंती सक्रियता महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती रही। इरफान हबीब ने मुगलकालीन सामंतवादी इकाई जमींदार की चर्चा करते हुए लिखा है कि "किसानों के अतिरिक्त उत्पादन के शोषण पर जीने वाला यह सबसे बड़ा तबका था, जिसे भूमि पर मोरुसी हक प्राप्त थे। जो स्थानीय स्वेच्छाचारिता का प्रतीक था।"

इस स्वेच्छाचारिता ने किसान और समाज के दूसरे वर्गों को भी तो तोड़ कर रख दिया। इस टूटन को उस युग के प्रमुख कवि तुलसीदास ने महसूस किया और अपनी कविता में, समाज में व्याप्त हर प्रकार के शोषण को अभिव्यक्ति दीः–

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि।
बनिक को न बनिज, न चाकर को चाकरी।।
जीविकाविहीन लोग, सीद्यमान सोचबस।

कहैं एक एकन सो, कहां जाई कहा करी।।"

मध्यकाल में भक्ति आंदोलन के समय सामंतवर्ग कितना शक्तिशाली था इसका प्रमाण उस समय होने वाले विद्रोहों से लगाया जा सकता है। इतिहासकार भी मानते हैं कि इसी सामंतवाद की महत्वाकांक्षाओं के कारण मुगल साम्राज्य का पतन हुआ। मुगलों में भी अकबर एक ऐसा शासक था, जिसने अपनी बुद्धि और शक्ति से सामंतों का उपयोग राजनैतिक और सांस्कृतिक एकता के लिए किया। प्रो. नुरुल हसन ने मुगल काल में जमींदार वर्ग की अहम् भूमिका का उल्लेख करते हुए यह स्वीकार किया है–"राजनैतिक दृष्टि से कई बार मुगल सरकार व जमींदारों में टकराहट के अवसर आते थे और बादशाह को उनके कारण कठिनाइयां भी होती थीं पर राज्य करने के लिए वह उन पर निर्भर रहने के लिए विवश था। सांस्कृतिक क्षेत्र में शाही दरबार तथा जमींदार वर्ग के निकट संबंधों के कारण अकबर जैसे शक्तिशाली शासक सामंतों का उपयोग राजनैतिक और सांस्कृतिक एकता के लिए कर सके।"

मध्यकालीन सामंती समाज की चर्चा करना इसलिए जरूरी है कि उस वक्त समाज का यह मूल ढांचा था और उसने तत्कालीन साहित्य और भक्ति आंदोलन पर अपना भरपूर प्रभाव छोड़ा। मध्यकालीन काव्य में समाज और संस्कृति के जो दृश्य दिखाई देते हैं इन्हें हम सामंती परिवेश से काटकर नहीं देख सकते। यह सामंती ढांचा समाज की रोजमर्रा की जिंदगी में दखल दे रहा था। उस समय के मठाधीश पंडित और मौलवी सब ही इसका फायदा उठाने की कोशिश कर रहे थे। ये लोग आम जनता का शोषण करते थे और धर्म की ठेकेदारी करते थे। जातिप्रथा और सांप्रदायिकता अपने स्वार्थ सिद्ध करने के लिए इस्तेमाल में लाई जा रही थी। इस शोषण से हिंदू और मुसलमान दोनों ही परेशान हो गए थे और एक ऐसे समाज की कल्पना करना चाहते थे, जहां मनुष्यता की पूजा हो, शोषण–मुक्त समाज हो, जीवन और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हो, मिथ्या पाखंड और कर्मकांड से मुक्ति मिले और पंडों तथा मौलवियों के शिकंजे से जनता का गला मुक्त हो सके। जहां हम इतिहासकारों के हवाले से भक्ति आंदोलन के वक्त के समाज को प्रस्तुत करना चाहते हैं वहीं हम भक्ति आंदोलन का रथ खींचने वाले संत कवियों की वाणी से भी अपनी बात सिद्ध कर सकते हैं ताकि साहित्य और इतिहास दोनों भक्ति आंदोलन की आवश्यकता को प्रमाणित कर सकें। इस समय की दुर्दशा का वर्णन करते हुए संत कवि चरनदास लिखते हैं–

"एकन पता पनही नहीं, एक चढ़ै सुख पाल।
एक दुखी एक अति सुखी, एक भूप एक रंक।
एकन को विद्या बड़ी, एक पढ़ै नहीं अंक।
एकन को मेवा मिले, एक चने भी नाहिं।
कारन कौन दिखाइए, कर चरनन की छांहि।"

इतिहास और इस युग में लिखे गए काव्य से यह स्पष्ट होता है कि मध्यकालीन भक्तिकाव्य अपनी भक्ति चेतना के बावजूद सामाजिक संलग्नता से उपजा है। क्योंकि कई बार सामाजिक परिस्थितियां चिंतन की दिशा को तय करती हैं और किसी भी युग का सामाजिक या साहित्यिक आंदोलन अपने समय की परिस्थितियों के दबाव से जन्म लेता है। डॉ. राम विलास शर्मा ने कहा है कि "सामाजिक परिस्थितियां चिंतन की सीमाएं निश्चित करती हैं।"

रामविलास जी की यह बात काफी हद तक इसलिए ठीक लगती है – ' कि रचना कई बार संपूर्ण सामाजिक दबावों को आत्मसात नहीं कर पाती और अपनी प्रासंगिकता को सिद्ध करने में असमर्थ रह जाती है। पर सार्थक रचनाएं ऐसा नहीं करतीं। भक्ति आंदोलन के सभी कवि चाहे वह निर्गुनी संत हों या प्रेम की पीर को पहचानने वाले सूफी फकीर, सगुण उपासक हों या परम तत्व को पहचानने वाले ज्ञानी हों, ऐसा लगता है कि इन सब कवियों का एक ही कमिटमेंट था।

बहुत सी भिन्नता होने के बाबजूद वह कमिटमेंट समाज को आगे ले जाने का था। क्योंकि भक्ति आंदोलन के सभी कवि, अपने वक्त की व्यवस्था से चोट खाकर टूटे थे। उस टूटन से उपजा था 'भक्ति–आंदोलन।' जो लोग भक्ति–आंदोलन को केवल पूजा–अर्चन, कर्मकांड तक सीमित रखकर देखना चाहते हैं, मैं उनसे सहमत नहीं हो पाती। यह सब कुछ भक्ति आंदोलन का एक दार्शनिक पक्ष था, जिसका उपयोग भक्ति आंदोलन को प्राणवता प्रदान करना था।

भक्ति–आंदोलन का मूल स्वर है विद्रोह। और यही उसकी प्रासंगिकता है जिसमें वर्णव्यवस्था से विद्रोह, दास–प्रथा से विद्रोह, स्त्रियों की दयनीय अवस्था से विद्रोह, सती–प्रथा से विद्रोह, राजनैतिक और सामाजिक शोषण से विद्रोह, धर्म के नाम पर आम जनता के शोषण से विद्रोह है। संत–काव्य का मूल स्वर विद्रोह ही था। यद्यपि इस विद्रोह में भी उन्होंने आध्यात्मिक पक्ष नहीं छोड़ा। इसलिए संत–काव्य जहां एक ओर कर्मकांडियों को फटकारता है वहीं वह सुरति–निरति की बात भी करता है–

'सुरति समानी निरत में निरत रही निरधार।
पूरे सों परिचय भया, तब खुले स्वयंभू द्वार।।'

भक्ति–आंदोलन जहां सामाजिक कुरीतियों से विद्रोह करता है वहीं एक समानांतर आध्यात्मिक चेतना को भी लेकर चलता है कि आध्यात्मिक चेतना से भक्ति काल के सभी कवि रस ग्रहण करते हैं और उससे शक्ति पाकर समाज से टकराते हैं। कबीर, रैदास, गुरुनानक, दादू, मलूकदास सभी संतों ने रोजमर्रा की जिंदगी और आध्यात्मिक चेतना को संबंधगत दृष्टि से देखा–

'हिंदू तुरूक को एकै कर्ता।
एक ब्रह्म सबन को भर्ता।।'

यहां देखने की बात यह है कि कबीर जहां एक ओर अपनी कविता में हिंदू और तुरूक को एक देखना चाहते हैं वहीं वह ब्रह्म की सत्ता को भी स्वीकार किए बिना नहीं रहते। उनका ब्रह्म सर्वव्यापी और सार्वजनिक है। ऐसा लगता है कि भक्ति–आंदोलन के सभी कवि आध्यात्मिक चेतना से एक विशेष प्रकार के वर्गहीन समाज को देख रहे थे, जहां जातियां खत्म हो जाती हैं, संप्रदाय टूट जाते हैं, धर्म बहुत पीछे रह जाते हैं, जहां केवल मनुष्यता ही बच जाती है। एक ऐसी मनुष्यता जो एक दूसरे के सुख–दुख की भोक्ता बनती है। संतों की इसी दिशा की ओर अपने ढंग से प्रेम की पीर पहचानने वाले सूफी संत भी आगे बढ़े। इनके यहां भी प्रेम सर्वोच्च और सर्वव्यापी तत्व है जो अंत में किसी अरूप परम सत्ता में विलीन हो जाता है। कुबुतन, मंझन, जायसी आदि सूफी संतों का विश्वास है कि हृदय की पवित्रता तथा प्रेम के द्वारा ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। यदि हम गंभीरता से विचार करें तो पाएंगे कि हृदय की पवित्रता तथा प्रेम जैसे तत्व सदैव ही प्रासंगिक हैं और रहेंगे। क्योंकि ये तत्व सामाजिक संबंधों की पवित्रता को निर्धारित करते हैं। यह दूसरी बात है कि सूफियों का प्रेम ईश्वर की तलाश करता है लेकिन यह ईश्वर मनुष्य से अलग नहीं है। मंझन अपनी मधुमालती में लिखते हैं–

'त्रिभुवन पूर अपूरि के एक जोति सब ठाउं।
जोति ही अनबन मूरति, मूरति अनवन नाउं।।'

सूफियों के इस प्रकार के चिंतन में क्या हमें मनुष्य मात्र की एकता नहीं दिखती? क्योंकि यह वह समय था जब समाज खंड–खंड हो चुका था और खंडित समाज को जोड़ने की आवश्यकता थी इसीलिए सूफी कवि भी जाति वर्ण और संप्रदायों को नकारकर मनुष्य की बात करते थे। वे प्रत्येक मनुष्य में एक ही जोति की तलाश करते हैं। अंतर सिर्फ यह था कि संतों ने ब्रह्म मायाजीव, जगत की बात की और सूफियों ने प्रेमतत्व की बात की। मुझे लगता है कि सूफियों का प्रेम तत्व अधिक व्यापक था। क्योंकि जब–जब मनुष्य पर संकट की घटाएं मंडराती हैं

तब–तक जातियां गायब होने लगती हैं, रंग और वर्ण–भेद गायब हो जाते हैं। बच जाता है सिर्फ मनुष्य। एक ऐसा थका हारा मनुष्य जो फिर से इंसानियत और आदमियत की जड़ों की ओर मुड़ता है। यह काम हर युग में कवि और साहित्यकार को ही करना पड़ता है। जिस तरह आज विज्ञान बहुत बड़ी शक्ति बनकर उभरा है, उसी प्रकार मध्यकाल में आध्यात्मिक चेतना भी बड़ी शक्ति के रूप में उभर कर सामने आई और यह आध्यात्मिक चेतना हिंदू और मुसलमान दोनों कवियों में समान रूप से देखने को मिलती है। सूफी कवियों के मुताबिक निःस्वार्थ और आध्यात्मिक रूप से पूर्ण व्यक्ति ही 'ईश्वरीय' सारतत्व को प्रतिबिंबित कर सकते थे और यह केवल प्रेम के द्वारा ही संभव था। 'सूफी मत का सारतत्व था। परमानंद की अवस्था में ईश्वरीय चेतना का गहन अनुभव।' अपने अतार्किक रहस्यवाद की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करने ही कोशिश में सूफी प्रायः ही उपनिषदों और वेदांत की शिक्षा पर निर्भर करते थे। कुछ सूफियों ने तो खुलेआम स्वीकार तक किया कि सूफी विचार वेदांत के विचारों के समरूप हैं। अकबर के पोते शहजादा–दाराशिकोह ने मिसाल के लिए 'मजमौल बहरैन' के प्राक्कथन में लिखा कि 'सूफियों और वेदांतियों के अद्वैतवाद में अंतर सिर्फ शाब्दिक है।'

'बावन उपनिषदों' के फारसी अनुवाद 'सिर्र ए अकबर' में तो उसने कहा कि 'कुरान तो उपनिषदों में निहित है।'

उसने कहा कि उपनिषदों का सारतत्व एक ही है। खुदा के अलावा और कहीं कुछ नहीं। उसने यह घोषणा की 'ओ खुदा को ढूंढने वाले, तू उसे सब जगह ढूंढ रहा है। अरे, तू ही खुदा है तू उससे जुदा नहीं है।'

यूसुफ हुसैन ने अपनी किताब (ळसपउचेपमे वि डमकपअपंस ब्नसजनतम) में लिखा है कि सूफी संत अक्सर बादशाह और रईसों के संपर्क से नफरत करते थे। वे इन सामंतों और सुल्तानों की विसंगतियों और विकृतियों को अच्छी तरह पहचानते थे। वह जानते थे कि ये लोग भोग–विलास में डूबकर जनता का शोषण करते हैं। ख्वाजा फरीदुदीन ने जो 'बाबा' के नाम से मशहूर थे, कहा था कि सूफी संप्रदाय का मुख्य उद्देश्य चित्त को एकाग्र करना है और चित्त को एकाग्र–जिंदगी के घटिया तरीकों को छोड़कर और बादशाहों से दूर रहकर ही किया जा सकता है। उन्होंने अपने शिष्यों में दया और उदारता की भावना पैदा की और गरीबों को गले लगाने की राय दी। उन्होंने तो खलीफाओं तक को यह सलाह दी थी कि वे अपनी दौलत इन्सानियत की सेवा में लगा दें। मुहम्मद नूर नवी ने 'डिवल्पमेंट ऑफ मुस्लिम रिलीजस ऑफ इंडिया' में बाबा फरीद का उद्देश्य बताते हुए लिखा है कि कोई मनुष्य केवल अपने लिए जीवित न रहे। खलीफाओं को चाहिए कि वे अपनी समूची धन संपत्ति को मानव मात्र की सेवा में अर्पित कर दें। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफी संत भक्ति–आंदोलन के अन्य कवियों की ही भांति मनुष्यता को पुनर्जीवित करना चाहते थे क्योंकि कट्टरता और सांप्रदायिकता उस समय के दो सबसे बड़े शत्रु थे। अक्सर इन सूफी संतों को हम लोग बहुत ही सीधे–सीधे और अमूर्त की बात करने वाला मानते हैं। लेकिन सच्चाई तो यह है कि पूरे का पूरा सूफी मत और उसकी विचारधारा का जन्म कट्टरता के खिलाफ संघर्ष ही से पैदा हुआ है। ऐतिहासिक अध्ययनों में हम पाते हैं कि सातवीं शताब्दी मे इस्लामी कट्टरता के विरुद्ध एक आंदोलन पैदा हुआ जिसने प्रेम को आधार बनाकर आत्मा, परमात्मा तथा समाज के संबंधों की नई व्याख्या प्रस्तुत की। इस विचारधारा को मानने वाले उदार पंथियों को सूफी संत कहा गया और इन संतों की उदार पंथियों को सूफी संत कहा गया और इन संतों की उदार विचारधारा को सूफीमत के नाम से जाना गया जिसे हम तसब्बुफ के नाम से भी जानते हैं। वह मूलतः एक वैचारिक

तथा साधनात्मक क्रांति है जो हजरत मुहम्मद के निधन के बाद मिस्र और ईरान से तुर्किस्तान तक फैली। यदि हम मध्यकालीन भक्ति–आंदोलन का ऐतिहासिक विवेचन करें, तो पाएंगे कि हिंदू सामंती तत्व मुसलमान सामंती तत्वों से अलग नहीं थे। लूटपाट, नोचखसोट के इस युग में दोनों ही जनता का शोषण कर रहे थे। हिंदू–मुस्लिम सामंती तत्वों की कट्टरपंथी और शोषण–पूर्ण मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप ही हिंदू–मुस्लिम जनता भक्ति मार्ग पर चल पड़ी। इस भक्ति मार्ग को कोई भी नाम दिया जा सकता है। हमें यहां यह जान लेना चाहिए कि यह संत सूफी और भक्त कवि सिर्फ धार्मिक भावना पर ही कविता नहीं लिखते थे, बल्कि अपने समय के आर्थिक और सामाजिक ढांचे को भी अच्छी तरह समझते थे। आम आदमी किस तरह जिंदगी और जिंदगी की चीजों से कटा रह जाता है इस बात को भी ये लोग अच्छी तरह महसूस कर रहे थे। स्वयं मलिक मुहम्मद जायसी ने जहां रत्नसेन और पदमावती के प्रेम का वर्णन किया, वहीं उन्होंने इस महाकाव्य में आर्थिक चेतना को भी अपनी कवि–दृष्टि से अभिव्यक्ति दी। जायसी के काव्य में अभिव्यक्त आर्थिक चेतना पर विचार करते हुए हम पाते हैं कि सिंहलगढ़ जायसी की वैभव–चेतना का परिचायक है। उसी वैभव–चेतना में जायसी को कुछ ऐसे लोग भी दिखते हैं जो निर्धन हैं और उनके लिए सिंहलगढ़ का हाट, बाजार और वैभव अर्थहीन है।

'बनिजारा खंड' में जायसी सिंहलद्वीप के बाजार का चित्रण करते हुए लिखते हैं कि चित्तौड़गढ़ का एक बनजारा जब उस बाजार में पहुंचता है तो देखता है कि खरीदने योग्य वहां सभी वस्तुएं उपलब्ध हैं किंतु निर्धन मनुष्य के लिए वहां कुछ भी उपलब्ध नहीं हो सकता। आम आदमी की इस पीड़ा से द्रवित होकर जायसी ने लिखा है कि–

'देखी हाट किछु सूझ न ओरा,

सबै बहुत कछु दीख न थोरा।

पै सुदि ऊंच बनिज तहं केरा,

धनी पात निधनी मुख हेरा।'

जायसी ऐसे सूफी संत नहीं थे जो लोक–चेतना और समाज से कटे हुए हों। वह तो अपनी कविता में निम्न से निम्न वर्ग के व्यवसाय को अभिव्यक्ति देते हैं। उनकी जिंदगी अपनी जीविका से कैसे जुड़ी हुई है यह बात उनकी दृष्टि से हटती नहीं है। अपने समय के आम आदमी केवट, माली, घसियारा, भांट, धाय आदि इन सबका वर्णन यह अपनी कविता में करते हैं। घंटा बजाने वाला घंटा समय पर बजाता है और केवट नदी पार कराने का काम करता है। धाय राजकुमारियों की सेवा में लगी, इन सबका चित्रण वे अपनी कविता में करते हैंरू–

'धरी सो बैठ गने धरिआरी, पहरि पहरि सो मापन बारी,

केवट हंसे जो सुनत गवेजा, समुंद न जान कुंआ कमरेजा।

पुरहनि धाह सुनत खिन धाई, हीरामनहिं बेगि हो आई।।'

जायसी की इस समाज सापेक्ष और कविता लिखने की परिपूर्ण दृष्टि पर मुग्ध होकर ही हजारी प्रसाद द्विवेदी ने पद्मावतकार की भूरि–भूरि प्रशंसा की। 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में उन्होंने सूफी कवियों पर विचार करते हुए कहा है कि इनमें सर्वश्रेष्ठ पद्मावतकार मलिक मुहम्मद जायसी हैं। जिनके काव्य सौंदर्य को चमत्कारिक रूप से उद्घाटित करने का श्रेय हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक पं. रामचन्द्र शुक्ल को है। पद्मावत की प्रस्तावना में आपने जैसी काव्य मर्मज्ञता दिखाई है वैसी हिंदी तो क्या अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी कम ही मिलेगी। यह प्रस्तावना अपने आप में अत्यधिक महत्वपूर्ण साहित्यिक कृति है।

द्विवेदी जी के विचार से मैं इस बिंदु पर सहमत हूं कि जायसी इसलिए सर्वश्रेष्ठ सूफी कवि हैं, क्योंकि उन्होंने एक ओर मुसलमान के हृदय से उत्पन्न तसव्वुफ की विचारधारा को लिया और दूसरी ओर हिंदुओं के प्रेमतत्व को। यह वह बिंदु है जब 14वीं शताब्दी तक आते–आते इस्लाम भारत में विदेशी धर्म नहीं रह गया था। इस देश के लोग अब इस्लाम को अपना ही धर्म समझने और उसका आदर करने लगे। संत और सूफी दोनों की शिष्य परंपरा में हिंदू–मुसलमान समान रूप से आने लगे। इन कवियों की प्रेरणा से एक ऐसा वातावरण बन गया था, जहां हिंदू और मुसलमान दोनों एक दूसरे से प्रेम करने लगे थे और एक दूसरे का सम्मान भी करने लगे थे। अब एक ऐसी संस्कृति विकसित होने लगी थी जिसे दिनकर ने 'सामासिक संस्कृति' कहा है, जिस संस्कृति में हिंदू मुसलमान दो प्रमुख अस्तित्वों के रूप में उभरकर आए। दोनों जातियों ने एक दूसरे को अपनी रूढ़ियों से भी प्रभावित किया। जैसे हिंदुओं ने मुसलमानों को जातिवाद का जहर पिलाया और बदले में मुसलमानों से हिंदुओं को पर्दे का श्राप मिला। इस तरह हिंदुओं में पीर और सैय्यदों की मजार पर चादरें चढ़ाने का रिवाज शुरू होने लगा। आज भी फूल वालों की सैर का मेला हिंदू और मुसलमानों की एकता की परंपरा में चला आ रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्तिकाल के अन्य कवियों की भांति अपने वक्त से असहमति और विद्रोह का भाव सूफियों में व्याप्त था। यह भाव उस वक्त भी प्रासंगिक था और आज भी उतना ही प्रासंगिक है। प्रासंगिक को मैं किसी काल विशेष का अंग नहीं मानती बल्कि प्रासंगिकता तो हमारे जीवन क्रम में बराबर हमारे साथ चलती है। जहां वह जीवन–क्रम से कटने की कोशिश करती है वहीं वह अप्रासंगिक हो जाती है। सूफी संतों का मनुष्यता के प्रति जो भाव था, उसकी स्थापना निरंतर उन्होंने अपने काव्य में की।

भक्ति–आंदोलन का ही एक प्रमुख पक्ष है राम और कृष्ण–काव्य। राम और कृष्ण काव्य में विद्रोह का स्वरूप संतों और सूफियों से थोड़े अलग ढंग का है। ये दोनों काव्य हमें चरित नायक देते हैं, ऐसे चरित नायक जो पौराणिक छवि को तोड़कर मानवीय भूमि पर जन्म लेते हैं, जो समाज से सीधे जुड़े हुए हैं और जो दुष्टों और शोषकों के विरुद्ध सक्रिय हिस्सेदारी निभाते हैं। हमें यह जान लेना चाहिए कि जब–जब समाज में शोषण बढ़ता है, व्यवस्थाएं टूटने लगती हैं और मूल्यों का विघटन शुरू हो जाता है तब–तब अपने देश–काल के वातावरण के अनुसार चरित नायकों की आवश्यकता होती है। यह चरित नायक नए भी हो सकते हैं और अपनी माइथोलोजी से भी लिए जा सकते हैं। लेकिन इनका सामाजिक प्रासंगिकता से जुड़ा होना अनिवार्य होता है। यही कारण है क इस काल में सूर और तुलसी के चरितनायक राम और कृष्ण अपने समाज की संघर्ष भूमि से जन्मे हैं। यदि हम तुलसी के राम पर ऐतिहासिक संदर्भ में विचार करें तो पाएंगे कि वाल्मीकि और भवभूति के राम में अंतर आ जाता है, क्योंकि इन कवियों की सामाजिक रचनाओं के परिवेश में अंतर है। तुलसी के राम मध्यकालीन समाज में एक लोकधर्मी नेतृत्व देने वाले पुरुष के रूप में हमारे सामने आते हैं जो वैभव से चमत्कृत नहीं हैं। और वे अपने तानाशाही रौबदाब से आतंकित भी नहीं करना चाहते बल्कि तुलसी के राम राजभवन के होकर भी संघर्षरत हैं। वे ऋषियों और विद्वानों को तंग करने वाले राक्षसों का नाश करते हैं और तो और प्रिया प्राप्ति के लिए भी राम को सामंतों और सम्राटों से संघर्ष करना पड़ता है। ऐसा लगता है कि तुलसी अपने चरित नायक राम के माध्यम से मध्यकालीन सामंतवाद पर चोट करना चाहते हैं जो खोखले अहंकार में जीता है और विलास तथा वैभव में अपनी सार्थकता समझता है। लेकिन तुलसी के राम राजभवनों में चलने वाले षडयंत्रों के शिकार होते हैं। वे देश निकाले की मार से पीड़ित हैं।

दुष्ट मनोवृति के लोगों के द्वारा पत्नी छीन लिए जाने पर एक प्रकार की आत्मग्लानि से भी पीड़ित हैं। ये संदर्भ ऐसे हैं जो सामंतवादी चरित्र के परिप्रेक्ष्य में समझे जाने चाहिए। तुलसी का युग ऐसा युग था जहां भले आदमी की न तो रोटी सुरक्षित थी न बेटी। तुलसी अपने समाज की इस अराजकतापूर्ण स्थितियों से भलीभांति परिचित थे और प्रभावित थे। इसलिए तुलसी का काव्य नायक भी मध्यकालीन सामाजिक संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में निर्मित होता है। इसीलिए राम के रूप में कवि को अपने समाज के लिए आध्यात्मिक जननायक की आवश्यकता थी जो राक्षसों से लड़ सके। सामंतवादी मूल्यों को तोड़ सके और दरिद्रता तथा भूख की मार को समझ सके। यानी तुलसी सामंती शासन के विपरीत एक नए समाज का खाका तलाश कर रहे थे। हो सकता है कि कुछ को यह यूटोपिया लगे लेकिन उस समय के कवि की यह इच्छा होना स्वाभाविक है–

'नहीं दरिद्र कोउ दुखी न दीना,

नहीं कोउ अबुध न लच्छन हीना।'

ऐसे समाज की तलाश उस कवि को ही हो सकती है जो अपने समय के समाज की मार को महसूस कर रहा हो और अपने समाज के लिए एक शीतल और छायादार जमीन ढूंढ रहा हो। तुलसी के समय का समाज दरिद्र भी था, दुखी भी और दीन और अबुध लच्छनहीन भी था।

भक्ति आंदोलन के राम सामाजिक दायित्व के अहसास को पनपाने वाले चरितनायक हैं। यद्यपि उनका जन्म रामघराने में हुआ है लेकिन राजपाट में उनकी आसक्ति नहीं। इसलिए कवितावली के अयोध्या कांड में तुलसी अपने राम के बारे में कहते हैं–

'राजीव लोचन राम चले,

तजि बाप को राज बटाउ की नाई।'

तुलसी जब भूख और दरिद्रता की बात करते हैं तब हमें तुलसी के समाज की भूख और दरिद्रता याद आती है, जहां आम आदमी भूख से तड़प रहा था और किसान खेती के लिए तरस रहे थे। भिखारी के लिए भीख भी नहीं उपलब्ध थी। इरफान हबीब ने अपनी पुस्तक 'द एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इंडिया' में उस वक्त की पुष्टि करते हुए लिखा है कि मध्यकाल के जो वृतांत मिलते हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि किसानों के पास रहने के लिए घासफूस की झोपड़ियां भर थीं। राम का व्यक्तित्व संघर्षों में खुलता है और वे लोकरक्षक चरित के रूप में उभर कर सामने आते हैं। ऐसे चरित नायक की प्रासंगिकता तत्कालीन ही नहीं आज भी है।

इसी प्रकार कृष्ण काव्य के कृष्ण भी मध्यकालीन किसानों और चारगाही संस्कृति का नेतृत्व करते हैं जो सीधे लोक चेतना से जुड़ी है। इस लोक चेतना की धरती से ही कृष्ण का जन्म होता है। जो लोकशत्रुओं का विनाश करने के लिए सदैव आगे है। कृष्ण कंस का वध करते हैं, नाग नथते हैं, गोवर्धन उठाकर जनपद की रक्षा करते हैं। पूतना का वध करते हैं। क्यों यह नहीं लगता कि असामाजिक तत्वों का वर्चस्व मध्यकाल में था? और उस समय का कृष्ण–काव्य अपने ही समय के असामाजिक तत्वों का विध्वंस चाहता था जिसे लोक–जीवन में जन्मा हुआ एक चरित नायक चाहिए था। जो आम आदमी की इन खतरों से रक्षा कर सके। लेकिन यहां भी यह बात स्पष्ट कर देना चाहती हूं कि कृष्ण काव्य में भी आध्यात्मिक और दार्शनिक चेतना का संस्कार निरंतर बना रहता है। जो आध्यात्मिक चेतना हमें संतकाव्य या सूफियों में दिखती है, वही कृष्ण काव्य और राम काव्य में भी प्रवाहित होती रही। कृष्ण लोक–जीवन के जननायक हैं। अपने आराध्य की प्रार्थना सूरदास रहस्यवादी ढंग से न करके लोक जीवन का उदाहरण लेकर करते हैं–

'प्रभु जू यौं कीन्ही हम खेती।

बंजर भूमि, गाउं हर जोते, अरु जेती की तेती।

काम क्रोध दोऊ बैल बली मिली रम–तामस सब कीन्हीं।

अति कुबुद्धि मन हांकन हारे माया जुआ दीन्हीं,

इंद्रिय मूल किसान महावृन–अग्रज बीज बई।

जनम जनम की विषय वासना उपजत लता नई।।'

जहां इनके पदों में अधिकारी, जमानत, पटवारी, नाई, कटाई, वर्षा, लुनाई इत्यादि का उपयोग हुआ है, वहीं अध्यात्म की धारा भी प्रवाहित हो रही है। कृष्ण–काव्य की विशेषता यह है कि इसमें हिंदुओं के साथ मुसलमान कवियों का भी बड़ा योगदान है। जब–जब कृष्ण–काव्य का जिक्र आएगा, तब–तब रहीम और रसखान की याद अवश्य आएगी। इन मुसलमान कवियों ने जो कृष्ण–काव्य रचा है कहीं–कहीं तो वह हिंदू कवियों के कृष्ण–काव्य से आगे बढ़ गया है। रसखान ने और रहीम ने कृष्ण की भक्ति को स्वीकार किया है और उसमें लोक–जीवन तथा लोक मूल्यों को प्रमुखता दी है, जहां मनुष्यता को पहचानने की पूरी कोशिश की गई है। रसखान को ब्रज और गोकुल के ग्वालों में एक ऐसी सहजता, सरलता और मानवीयता दिखती है जिसमें डूबकर वह अचानक कह उठते हैंरू

'मानुष हौं तो वही रसखान, बसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन।'

रसखान की प्रेम भक्ति संप्रदाय की चारदीवारी को पूरी तरह तोड़ देती है। रहीम नीति और अनीति के द्वंद्व को पहचानते हैं और इस द्वंद्व से उभरने के लिए कृष्ण और राम जैसे गुणज्ञ जननायकों को स्वीकार करते हैं इसलिए वह कृष्ण और राम दोनों को स्वीकार करते हुए दो अलग–अलग दोहे लिखते हैं–

'तैं रहीम मनु आपनौ कीन्हों चारु चकोर।

निसि बासर लग्यो रहै कृष्ण चंद्र की ओर।।'

'अब रहीम मुश्किल पड़ी गाढ़े दोउ काम।

सांच कहूं तो जग नहीं, झूठें मिलैं न राम।।'

इतना ही नहीं रहीम तत्कालीन समाज में दुष्ट और सज्जनों की प्रवृत्ति को भी पहचान रहे थे और प्रकृति के माध्यम से उसका अतीव सुंदर चित्र खींचते हैं और कहते हैं–

'कहो रहीम कैसे निभै केर बेर को संग।

वह डोलत रस आपने उनके फाटत अंग।।'

भक्ति आंदोलन के इस सांस्कृतिक समन्वय की आज भी आवश्यकता है। क्या बदलते हुए समाज और टूटती मानवीयता में भक्ति आंदोलन के वे गतिशील तत्व आज प्रासंगिक नहीं? मुझे तो बराबर लगता रहा है कि भक्तिकाल का प्रत्येक कवि चाहे वह संत हो या सूफी राम काव्यधारा हो या कृष्ण काव्यधारा, सभी का मूल स्वर सामाजिक रूढ़ियों से विद्रोह था, शासन के ढांचों से विद्रोह था। कहीं इस विद्रोह का ज्वालामुखी मुखरित होकर फूटता हुआ दिखाई देता है तो कहीं विद्रोह की मंद–मंद आग हमारी संवेदना को सुलगाती है। विद्रोह का यह काव्य कहीं तोड़ता है तो कहीं जोड़ता है। यह विद्रोह आज भी उतना ही सत्य है जितना उस समय था। अंतर केवल यह है कि आज जिस तरह हम विद्रोह के लिए विज्ञान का सहारा ले रहे हैं, मध्यकाल में विद्रोह का अस्त्र अध्यात्म था। लेकिन ध्यान रखने की बात यह है कि जकड़न से छुटकारा पाने और विकास के लिए व्यवस्था से विद्रोह आवश्यक हो जाता है। पंड़ित हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कहें तो जकड़ी हुई मनोवृति से छुटकारा पाने के लिए तब भी विद्रोह जरूरी था अब भी जरूरी है। यही भक्ति आंदोलन की सामाजिक प्रासंगिकता भी कही जा सकती है।

सहायक ग्रन्थ सूची

1– हिन्दी साहित्य का इतिहास ,रामचंद्र शुक्ल

2 –भक्ति काव्य की भूमिका प्रेमशंकर

३– विनय पत्रिका तुलसीदास

4– कबीर ग्रंथावली डॉ श्याम सुन्दरदास

5– पद्मावत रामचन्द्र शुक्ल

6– सूरसागर –सूरदास कृत